

## हमारे यहाँ उपलब्ध ग्रन्थ प्रकाशन

1. जैन मूर्ति पूजा में व्याप्त विकृतियाँ (तृतीय परिवर्तित संस्करण)  
लेखक—श्री बिरधीलाल सेठी, प्रस्तावना व प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य  
पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, विद्यावारिधि इतिहासरत्न, डॉ० ज्योतिप्रसाद  
जैन। मूल्य : २ रुपया।
2. षडावश्यकों एवं मूर्तिनिर्माण में विकृतियाँ (द्वितीय संस्करण)  
लेखक—पं० भँवरलाल पोल्याका, जैन दर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री।  
प्राक्कथन—प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन। मूल्य : ५० पैसे
3. पद्मावती आदि शासन देवों, होम, हवन, मन्त्र, तन्त्र संबंधी मिथ्यात्व  
(द्वितीयावृत्ति परिवर्धित) लेखक—श्री बिरधीलाल सेठी। मूल्य ८० पैसे।
4. आदर्श नित्य नियम पूजा (सर्वश्रेष्ठ रचना के रूप में पुरस्कृत)  
पद्य रचयिता—कविभूषण अमृतलाल चंचल। मूल्य : ५० पैसे।
5. जैन साधु कौन ?—लेखक—बिरधीलालजी सेठी। मूल्य १ ) रुपया

### प्राप्ति स्थान :—

1. जैन संस्कृति संरक्षण समिति (पता मुखपृष्ठ पर)।
2. वीर पुस्तक भण्डार, मनहारों का रास्ता, जयपुर—३०२००३
3. रतनलाल जैन एण्ड ब्रदर्स, मेहता भवन, एम० टी० क्लोथ मार्केट,  
इन्वोर ४५२००२ (म.प्र.)

**प्रचारार्थ—**प्रकाशक को मूल्य पेशगी भेजने पर—२५ रु० की पुस्तकों पर रजिस्ट्री खर्च नहीं लिया जावेगा और ५० रु० मूल्य की पर २०% तथा १०० रु० या इससे ज्यादा की कीमत पर २५% डिस्काउण्ट भी दिया जावेगा।

श्री वीर प्रेस, जयपुर

## अरहंत प्रतिमा का

# अभिषेक

## जैन धर्म सम्मत नहीं

लेखक :

स्व० पं० बंशीधर शास्त्री, एम. ए.

प्रस्तावना :

डा० हुकमचन्द भारिल्ल, एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्री, न्यायतीर्थ  
जयपुर

प्रकाशक :

जैन संस्कृति संरक्षण समिति

8, अरविन्द पार्क, टोंक फाटक, जयपुर-302015

तृतीय संस्करण  
3000 प्रतियाँ

फरबरी 1985

मूल्य :  
80 पैसे मात्र

## प्रस्तावना

जैन दर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है। जगत का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता या नियन्ता किसी सर्व शक्तिमान ईश्वर की सत्ता को वह स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में जगत का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र है और अपनी अच्छी—बुरी परिणति का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता स्वयं है। अपने अच्छे बुरे कार्यों का वह स्वयं उत्तरदायी है। प्रत्येक द्रव्य की यह स्वतंत्रता जैन दर्शन की अपनी मूलभूत विशेषता है। दुःखों से मुक्त होने का उपाय भी जैन दर्शन के अनुसार स्वावलम्बन है। किसी दूसरे के आश्रय से भी दुःखों का अन्त नहीं आ सकता। जब तक यह आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ताको स्वीकार नहीं करेगा और उसका आश्रय नहीं लेना तब तक संसार के दुःखों का अन्त सम्भव नहीं है।

‘अप्पा सो परमप्पा’ आत्मा ही परमात्मा है—जैन अध्यात्म की यह मूल मान्यता है। ज्ञानानन्द स्वभावी निज परमात्म तत्त्व के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की उत्पत्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की उत्पत्ति और वृद्धि ही मोक्षमार्ग है और पूर्णता ही मोक्ष है। अतः जैन दर्शन में भक्ति को मुक्ति का कारण स्वीकार नहीं किया गया है। यही कारण है कि जैनदर्शन, भक्ति प्रधान दर्शन नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनदर्शन में भक्ति को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

यद्यपि जैनदर्शन में भक्ति को मुक्ति का कारण स्वीकार नहीं किया गया है, तथापि ज्ञानी आत्मा के हृदय में भी वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा, उनके द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग वाणी एवं उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने वाले नग्न दिगम्बर वीतरागी संतों के प्रति सहज ही भक्ति का भाव उमड़ता है। इस संदर्भ में आचार्यकल्प पंडित श्री टोडरमलजी के विचार दृष्टव्य हैं—

“तथा कितने ही जीव भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर यहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमति जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं

वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ। परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है। जब राग का उदय आता है तब भक्ति न करें तो पावानुराग ही, इसलिए अगुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग को बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर संतुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं। वही पंचास्तिकाय व्याख्या में कहा है—‘इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्या-ज्ञानिनो भवति। तीव्ररागज्वरविनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानि-नोपि भवति ॥’

अर्थ—यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके, ऐसे अज्ञानी जीव के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।”

वीतरागी जैनदर्शन में भी भक्ति, पूजन और प्रक्षाल की परम्परा में आज बहुतसी विकृतियाँ आ गई हैं। सात्विक स्तुति वंदना ने आज आडम्बर का रूप ले लिया है। विकृतियों के विकास का इतिहास भी सदियों पुराना है और उसके विरुद्ध सुधार की क्रान्तियाँ भी सदियों से होती रही हैं। पण्डित श्री बनारसीदासजी और आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी जैसे आत्मारथी दिग्गज विद्वानों को भी उक्त विकृतियों से जूझना पडा था।

इन लघुकृति में श्री बंशीधरजी शास्त्री, एम. ए. ने समाज का ध्यान एक बार फिर इस ओर आकृष्ट किया है। पण्डितजी जुझारू प्रकृति के निस्पृही विद्वान हैं और समय समय पर समाज को सावधान करते रहते हैं। इस कृति द्वारा जिस दिशा में उन्होंने समाज का ध्यान आकषित किया है, समाज को उस ओर ध्यान देना चाहिए।

उनके इस प्रयास के लिए उन्हें साधुवाद देते हुए इस भावना और विश्वास के साथ विराम लेता हूँ कि तत्वप्रेमी समाज इस कृति से पूरा-पूरा लाभ उठावेगी।

डा. हुकमचन्द भारिल्ल

## प्राक्कथन

### ( प्रथम संस्करण )

आत्मवादी जैन दर्शन ने आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए वीतरागता को ही प्रमुखता दी है। इसमें परमात्म स्वरूप वीतराग-अरहंत-सिद्ध की वंदना-स्तुति को साधक के लिए विधेय बताया गया है। फिर भी समय-समय पर इस आदर्श मार्ग में अन्य धर्मावलम्बियों के प्रभाव या ज्ञान की कमी से विकृतियाँ आती रही हैं और यथा समय उनके परिमार्जन के लिए प्रयत्न भी होते रहे हैं। उदाहरण के लिए आचार्य कुन्दकुन्द का पावन नाम सहज ही स्मृति में आता है जिन्होंने अपने समय तक साधना मार्ग में समाविष्ट विकृतियों का जबरदस्त विरोध करते हुए परमात्म स्वरूप ग्रन्थों की रचना कर समाज का मार्ग दर्शन किया।

मध्यकाल में भी वैष्णव धर्म के भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से आत्म-वादी जैन लोग भी अछूते नहीं रहे। वे आदर्श वीतराग जिनेन्द्र की निष्काम वंदना स्तुति के स्थान पर उन्हीं की नहीं अपितु शासन देवताओं के रूप में अन्य अस्तित्वहीन एवं कल्पित रागी द्वेषी देवी देवताओं को सांसारिक कामनाओं के पुर्वार्थ आडम्बर प्रदर्शन पूर्ण आयोजनों को महत्व देने लगे। वीतराग अरहंत प्रतिमा की प्रक्षाल जैसी साधारण क्रिया में अनेक निरर्थक प्रवृत्तियों ( पंचामृताभिषेक तथा शृंगार के नाम पर चरणाँ पर केशर, पुष्प लगाना आदि ) का विकास हो गया जिसमें अब प्रक्षाल जल-गंधोदक को पीने जैसे अन्धविश्वास एवं अन्ध प्रदर्शन यथा कलश बित्री व पुष्पमाला की ढाक आदि भी समाविष्ट हो गए हैं। अतः प्रक्षाल एवं अभिषेक की वास्तविकता से परिचय कराने के लिए इस प्रबन्ध की रचना की गई थी जिसे जैन सन्देश में ‘कलशाभिषेक : एक समीक्षा’ शीर्षक से छपाया था।

श्रीमती शांता जैन एवं निर्मला सेठी ने इस प्रबन्ध को पुस्तक रूप में छपाने का भार बहन कर विकृतियों के विरोध को प्रोत्साहन दिया है। समाज

के लब्ध प्रतिष्ठ अध्यात्म प्रवक्ता डा० हुकमचन्दजी भारितल ने प्रस्तावना लिखकर विकृतियों की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया है। मुझे इस प्रबन्ध को लिखने में अनेक विद्वानों के लेखों एवं पुस्तकों से पर्याप्त सामग्री एवं प्रेरणा मिली है, अतः मैं प्रकाशक, प्रस्तावना लेखक एवं उक्त विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ।

यहाँ मैं प्रसिद्ध सुधारक एवं समाज सेवी श्री बिरधीलालजी सेठी का उल्लेख अवश्य करना चाहूँगा जो धर्म प्रक्रिया में आगत विकृतियों के प्रति जागरूक हैं एवं समाज को उनसे सावधान करने के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। आप ही की सुप्रेरणा का फल है कि जैन सन्देश में प्रकाशित उक्त प्रबन्ध को संशोधित कर यह पुस्तक रूप दिया गया है।

हमें धार्मिक व सामाजिक विकृतियों, कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों का सम्बन्ध परम्परा, आम्नाय, पंथ, देश, काल आदि से न जोड़कर शास्त्राधार एवं आगम सम्मत युक्ति से उनके परिमार्जन का प्रयत्न तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि वे दूर न हो जावें। मिथ्यात्व के मुकाबले में विकृतियाँ एवं अन्धविश्वास बहुत अर्वाचीन हैं एवं इसी भव के हैं अतः शास्त्राधार एवं विवेक से इनकी परीक्षा कर उन्हें छोड़ देने में ही हमारा हित है।

संभव है कुछ भाई इससे सहमत न हों उनसे मेरा निवेदन है कि वे निःसंकोच होकर अपनी असहमति को आधार सहित मुझे भेजने का कष्ट करें ताकि उनका आवश्यक समाधान किया जा सके।

1152, चाणक्य मार्ग,  
सुभाष चौक, जयपुर  
21 नवम्बर, 1981

वंशीधर शास्त्री एम. ए.

## अरहंत प्रतिभा का अभिषेक जैन धर्म सम्मत नहीं

**जीव की स्थिति**—जैनधर्मानुसार इस विश्व की रचना अनादिकाल से है, इसका न कोई स्रष्टा है, न कोई पालक है और न कोई संहारक है। ऐसा कोई सप्तास्वरूप ईश्वर भी नहीं है जिसके संकेत, इच्छा अथवा अनिच्छा पर विश्व का कार्यक्रम चलता हो। इसमें छहों द्रव्य—जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल की स्वतन्त्र सत्ता है। इनका परिणामन किसी अन्य के अधीन नहीं है। जीव अनादिकाल से, खान में रहने वाले मलयुक्त सोने की तरह, अज्ञान भाव से युक्त है जिसके कारण उसके राग-द्वेष होता रहता है, उससे कर्मों का आस्रव एवं बन्ध होता रहता है। वह जैसे कर्मों का आस्रव एवं बन्ध स्वयं अपने अज्ञान भाव से करता है वैसे ही वह अपने ज्ञान भाव से नए आने वाले कर्मों का रुकाव एवं बन्ध हुए कर्मों की निर्जरा भी स्वयं कर सकता है एवं एकबार कर्मों की पूर्ण निर्जरा—क्षय—हो जाने के बाद उसका संसार में आवागमन समाप्त हो जाता है; अन्यथा वह संसार में भटकता ही रहता है। इस भटकने से छूटने का नाम ही मोक्ष है एवं जैन धर्मानुसार शाश्वत सुख-शांति पाने के लिए यही लक्ष्य है जिसे वह राग द्वेषादि कषाय भाव एवं पाप भावों से मुक्त होकर पा सकता है। जैन धर्म में किसी की अनुकम्पा या किसी का सान्निध्य, शरण पाने का लक्ष्य न होकर अपने आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का ही लक्ष्य है।

**स्तवन वन्दन**—जैन धर्म आत्म-श्रद्धा, ज्ञान व आभरण को प्रमुखता देता है जिसे साधु साधना द्वारा पूर्ण रूप से प्राप्त करता है एवं श्रावक आशिक-रूप से पा सकता है। फिर भी प्रारम्भिक अवस्था में पंच परमेष्ठी की स्तुति-वंदना करना मुनि एवं श्रावक का आवश्यक कर्म है। साधु एवं श्रावक प्रति

दिन इनका स्तवन वन्दन करे ऐसा उपदेश मान्य ग्रन्थों में मिलता है। अरहंत परमेष्ठी सर्वत्र व सर्वदा सुलभ नहीं होते अतः उनकी तदाकार वीतराग मुद्रावाली प्रतिमा ( मूर्ति ) बनाई जाती है ताकि अरहंत की अविद्यमानता में उनकी वीतराग मुद्रा के माध्यम से उनकी उपासना की जा सके, मूर्ति केवल उनके गुणों के माध्यम से अपनी आत्मा के गुणों का स्मरण कराने के लिए है ताकि वह स्वयं भी उन जैसा बनने की प्रेरणा ले सके।

**प्रक्षाल**—तीर्थकरों की अरहन्त अवस्था की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। मूर्ति पर रजकण लगना स्वाभाविक है, अतः उसकी स्वच्छता के लिए प्रक्षाल करना श्रावक के स्तवन वन्दन का ही प्रथम कार्य बना दिया गया। सूखे वस्त्र से मूर्ति पर आच्छादित रजकण झाड़कर थोड़ा पानी डालकर गीले वस्त्र एवं बाद में सूखे वस्त्र से पोंछना प्रक्षाल है। अब देखा यह जाता है कि प्रक्षाल, परम्परा के नाम पर इस प्रकार पूरी की जाती है कि कई मूर्तियों पर जल पूरा न पोंछा जाने के कारण कई तक जम जाती है। मन्दिर में मूर्तियों की बहुलता के कारण भी प्रक्षाल ढंग से नहीं की जाती। अतः इस प्रकार की प्रक्षाल से मूर्तियाँ विशेषतः पाषाण व धातु की काली व बेरूप लगने लगती हैं। प्रतिमा का मैल हटाने के उद्देश्य की पूर्ति तो सूखे वस्त्र से प्रतिमा पर आई धूल को हटाने से भी हो सकती है। आदर्श नगर, जयपुर के जैन मन्दिर में केवल मूलनायक प्रतिमा की रोज प्रक्षाल की जाती है, अन्य प्रतिमाओं की प्रक्षाल न कर सूखे वस्त्र से धूल हटा देते हैं। ऐसे ही और भी कई दुर्गम स्थानों की तथा मानस्तम्भ स्थित मूर्तियों व विशाल मूर्तियों (जैसे बाहुबली) की प्रतिदिन प्रक्षाल नहीं होती।

**ईश्वर कर्तृत्ववाद का प्रभाव**—जैसा कि पहले लिखा है, अरहन्तों की प्रतिमाएँ उनके वीतराग स्वरूप का स्मरण दिलाकर केवल उन जैसा वीतराग बनने की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए हैं और प्रक्षाल का उद्देश्य केवल यह है कि प्रतिमा पर आच्छादित रजकण या मैल हट जाय। ईश्वर कर्तृत्ववादियों की तरह प्रक्षाल से प्रतिमा की भक्ति प्रदर्शित करने का प्रश्न

ही पैदा नहीं होता। परन्तु मध्यकाल में भक्तिवाद के प्रवाह में परमात्म-स्वरूप ईश्वर में विश्वास रखने वाले जैन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे जैसा कि विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसादजी जैन ने 'जैन—सन्देश' के शोधांक (23-2-78) में लिखा है—'इस प्रकार जैन मन्दिरों में भी भक्ति उपासना के ढोल और मंजीरे खटकने लगे। कीर्तन और कर्तल ध्वनि होने लगी और भक्ति साहित्य रचा जाने लगा... अब जैन धर्म में पंचव्रतों का पालन उतना मुख्य नहीं रहा जितना कि मन्दिर और चैत्य बनवाना, मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराना और फिर उन मूर्तियों के सामने पूजा कीर्तन करते हुए मस्त हो जाना मुख्य हो गया।' मध्यकाल में जैन परम्परा में भी ईश्वर-कर्तृत्ववादियों की तरह प्रक्षाल को भक्ति प्रदर्शन एवं क्रियाकाण्ड का रूप दे दिया गया तथा इसे राज्याभिषेक शृंगार की तरह जन्माभिषेक मानने से कलशाभिषेक, पंचाभूताभिषेक, शान्तिधारा एवं प्रतिमा के चरणों पर केशर चन्दन लगाकर सच्चित्त पुष्पों से शृंगार करने रूप कई विकृतियाँ पैदा हो गईं। वस्तुतः भक्ति की अभिव्यक्ति तो पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति की भावना लिए हुए, रागद्वेष-कषायादि की कमी होते हुए भावों की निर्मलता के रूप में होनी चाहिए।

**श्रावकाचारों की पृष्ठभूमि**—वीतरागी जिनेन्द्र की उपासना का उद्देश्य उन्हीं की तरह वीतरागी बनने की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए होने से श्रावक के आचरणों में भी प्रारम्भ में मिथ्यात्व, कषायादि एवं पाप कार्यों के त्याग की ही मुख्यता थी जिसकी पृष्ठभूमि में सम्यग्दर्शन था एवं स्वरूप में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत व सल्लेखना या 11 प्रतिमा का पालन मुख्य था जैसा कि कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अमृतचन्द्र जैसे महान् आचार्यों की रचनाओं से ज्ञात होता है।

सोमदेव और आशाधर जैसे लौकिक विधिविधान के समर्थक रचना-कारों के प्रभाव से उत्तरकालीन रचनाओं में श्रावक के आचरणों में निवृत्ति को गौणता एवं प्रवृत्ति को मुख्यता दी जाने लगी। पांच अणुव्रतों का स्थान

पांच उदम्बर फलों के त्याग को देने से श्रावक के त्यागरूप आचार का कोई महत्व नहीं रहा। इससे श्रावक के लिए कषाय त्याग, मिथ्यात्व-त्याग एवं पापत्याग या रागद्वेष की कमी तथा समता धारण की आवश्यकता नहीं रही। उसकी धार्मिकता परखने का मापदण्ड मन्दिर जाना, भक्ति पूजन करना या दान देना मात्र रह गया भले ही उसके जीवन में धार्मिकता, सत्यनिष्ठा, सात्विकता, समता, भेदविज्ञान आदि का अभाव हो एवं पापाचरण, कषाय, रागद्वेष आदि का सद्भाव हो। उन मध्यकालीन रचनाओं में अनावश्यक क्रियाकाण्डों, प्रदर्शनों का विस्तृत वर्णन किया जाने लगा। पहले के मान्य षट् आवश्यकों [सामायिक, स्तवन, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग (त्याग)] के स्थान पर नए षट् आवश्यक कर्मों (देव पूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय संयम, तप और दान) का निर्माण किया गया। फिर उनमें भी दान और पूजा ही मुख्य रह गए (इसके लिए कुन्दकुन्द के नाम पर रयणसार जैसा ग्रन्थ रचा गया) तदनु रूप श्रावक के जीवन में व्रत एवं प्रतिमा रूप आचरण का अभाव एवं बाह्य क्रियाकाण्डों का प्रदर्शन मुख्य रह गया। तथाकथित धर्म गुरुओं ने भी इन बाह्य प्रदर्शनों को ही अपनी तथा श्रावकों की धार्मिकता नापने का मापदण्ड बना दिया।

प्रक्षाल का आत्मशुद्धि की दृष्टि से महत्व न होने के कारण इसे धार्मिक क्रिया का रूप नहीं दिया गया था इसीलिए प्राचीन श्रावकाचार शास्त्रों में प्रक्षाल का कहीं विधान नहीं मिलता। प्रक्षाल का उद्देश्य प्रतिमा का मात्र मैल, रजकण दूर करना है, इस तथ्य को अ० भा० दि० जैन परिषद् द्वारा जारी प्रश्नावली के उत्तर में मान्य विद्वानों ने भी निम्न प्रकार से स्वीकार किया है—

**श्री पं० फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री**—प्रतिमा शुद्धि के लिए जल का यथावसर प्रयोग पर्याप्त है। यह पूजा का आवश्यक अंग नहीं है।

**पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री**—साक्षात् भगवान का प्रक्षाल नहीं होता; पर मूर्ति की वीतरागता स्पष्ट रहे, अतः स्वच्छता आवश्यक है।

**पं० खुशालचन्द गोरावाला**—प्रक्षाल का उद्देश्य प्रतिमा पर से मैल धोना है। गंधोदक को पीना व उसके नातने की लीरी आदि को बांधना आदि मिथ्यात्व है।

**पं० रतनलाल कटारिया**—मूर्ति की स्वच्छता, निर्मलता प्रक्षाल का उद्देश्य है। गंधोदक को पीने का उल्लेख देखने में नहीं आया। यह जैनैतरों की नकल है। प्रक्षाल के नातने की लीरी को बांधना अतिरेक है।

**डा० भागचन्द जैन, नागपुर**—तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्रक्षाल का शुद्धि और पवित्रता से सम्बन्ध है। उपासना के मूल उद्देश्य की पूर्ति का उससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

यद्यपि अन्य किसी विद्वान ने प्रक्षाल के उद्देश्य - प्रतिमा पर आगत रजकण दूर करना है—की आलोचना की है क्योंकि उन्हें विरोध करना था, किन्तु उन्होंने प्रक्षाल का अन्य कोई उद्देश्य नहीं बतलाया।

इस दृष्टि से यदि किसी प्रतिमा की दिन में एक बार प्रक्षाल की जा चुकी हो तो उसकी बार बार प्रक्षाल करने की भी कोई उपयोगिता नहीं रहती।

**प्रक्षाल का उद्देश्य भक्ति-प्रदर्शन बन गया**—प्रक्षाल करते समय प्रक्षाल में पूर्ण ध्यान रखना चाहिए, यदि चिंतवन करना हो तो अरहंतों के गुणों का चिंतवन करना चाहिए, वहाँ दिखावटी भक्ति-प्रदर्शित करने को पंच मंगल पाठ या जन्म कल्याण पाठ या केवल उसका निम्नछन्द या छन्द की भी तीसरी पंक्ति ही बार-बार पढ़े जाते हैं—

वदन उदर भ्रवगाह कलशगत जानियो ।

एक चार वसु जोजन मान प्रमानियो ॥

सहस्र अठोत्तरकलसा प्रभु के सिर डुरई ।

करि सिंगार प्रमुख आचार सब करई ॥

कुछ लोग "करि सिंगार" का अनुकरण करते हुए प्रतिमा पर केसर-चन्दन की टीकी लगाने एवं सचित्त पुष्पों से सजावट करने लगे।

इनके स्थान पर हरजसराय कृत प्रक्षाल पाठ या अन्य स्तुति परक पाठ पढ़े जाने की परम्परा भी है।

**प्रक्षाल जल का दुरुपयोग**—प्रक्षाल के जल को भी पवित्र मानकर ललाट, नेत्र व गले में लगाया जाता है। प्रक्षाल के जल एवं नातने में कष्ट दूर करने का गुण मानकर नातने की लीर को गले, भुजा आदि में बांधते हैं। कुछ त्यागी लोग प्रक्षाल जल को बीमारी मेटने के लिए पीने का भी उपदेश देते हैं और उनके प्रभाव से कुछ अत्रिवेकी लोग पीने भी लगे हैं। यह विचारणीय है कि जब अरहन्त भगवान किसी को कुछ लेते देते नहीं हैं तो यह अन्धभक्ति नहीं है तो क्या है? क्योंकि जैन धर्मानुसार तो अरहन्तों के गुणों में प्रशस्त अनुराग का होना ही उनकी भक्ति है जैसा कि कहा भी है—  
“गुणानुरागः भक्ति।”

**अभिषेक-श्रृंगार रूप विकृति का प्रवेश**—उक्त प्रक्षाल जैसी साधारण क्रिया को अभिषेक भी कहा जाने लगा और उसे आडम्बर एवं क्रियाकांड का रूप देते हुए जन्माभिषेक के रूप में राज्याभिषेक की तरह मान्यता दी जाने लगी। इस अभिषेक शब्द का इतना प्रचार किया गया कि प्रक्षाल शब्द के स्थान पर इसका प्रयोग होने लगा। दोनों के मूलभूत अन्तर की ओर साधारण पाठक ही नहीं विद्वानों का ध्यान भी नहीं जाता। यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि हम वीतराग अरहन्त की उपासना उन्हीं की तरह वीतराग बनने की प्रेरणा पाने के लिए करते हैं। उनकी प्रतिमा के निर्माण का केवल यही उद्देश्य है कि उसके दर्शन कर उनके वीतराग स्वरूप का लक्ष्य कर अपने आत्मस्वरूप का भान होजावे ( फिर भी प्रतिमा को साक्षात् अरहन्त भगवान नहीं मानते क्योंकि वे तो मुक्त हो गये हैं ) अतः हमारे हृदय में अरहन्त भगवान के प्रति भक्ति, विनय, आदर का भाव उसकी अभिव्यक्ति मात्र रागद्वेषादि विकारी भावों की कमी के रूप में ही होगी। उदाहरण के लिए हमने अपने कमरे में अपने पिताश्री का चित्र लगा रखा है, उसे देखकर हमारे हृदय में उनके प्रति आदर-विनय का भाव होगा और उनके जीवन-

काल में हम पर किए गए उपकारों को स्मरण कर उनके आदर्शों एवं उपदेशों को जीवन में उतारने की भावना पैदा होगी; परन्तु उस चित्र को ही साक्षात् पिता मानकर पितृ-भक्ति के नाम पर पिता के योग्य, चित्र की परिचर्या करने लगे तो हमें भूख ही माना जावेगा। इसी प्रकार अरहन्त प्रतिमा को साक्षात् अरहन्त मानकर उसके अभिषेक, श्रृङ्गार आदि कराने में ही उनके प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन और उसमें आत्मकल्याण समझते हैं तो वह हमारा अत्रिवेक ही है और ऐसा करके हम उपहास के पात्र बन रहे हैं। इसी कारण वीतराग भाव की साधना का वास्तविक उद्देश्य उपेक्षित हो गया है।

यदि अरहन्त प्रतिमा को ही साक्षात् भगवान मान लिया जावे तो भी तप, केवल ज्ञान एवं निर्वाण क्रिया सम्पन्न तीर्थङ्कर मूर्ति का और अन्य साधारण अरहन्तों यथा बाहुबली आदि की मूर्ति का प्रतिदिन जन्म कल्याण का अभिषेक करने का कोई औचित्य नहीं है। दीक्षा कल्याण के समय स्नान मात्र का त्याग हो जाता है यह तो जैन बालक भी जानता है। अतः दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण कल्याण से प्रतिष्ठित वीतराग जिन बिम्ब का अभिषेक-श्रृङ्गार आदि करना तो जैन सिद्धांत के विपरीत होने से सर्वथा अनुचित है। यदि वीतराग जिन प्रतिमा का प्रतिदिन जन्माभिषेक एवं केशर चन्दन एवं सच्चित्त पुष्पों से श्रृङ्गार करना आवश्यक समझें तो फिर प्रतिमा के भोग युद्ध, राज्याभिषेक आदि भी प्रतिदिन क्यों न किए जावें ?

**शांतिधारा की अनावश्यकता**—कहीं कहीं अभिषेक की परम्परा में अन्य धर्मावलम्बियों का अनुकरण कर कुछ लोग शांतिधारा भी करने लगे जो भक्तों की ग्रहशान्ति, नाना कष्टों, विपत्तियों के निवारण एवं सुख, ज्ञान, बल, आयु, भोग आदि की प्राप्ति व वृद्धि के कामना सूचक मंत्रोच्चार पूर्वक जिनेन्द्र देव की मूर्ति पर जलधारा घण्टों तक डाली जाती है जिसकी सीमा दातार की शक्ति सामर्थ्य पर निर्भर करती है। जैनधर्मानुसार लौकिक कष्ट असाता कर्म के उदय जन्य हैं। उन्हें न तो जिनेन्द्र और न कोई अन्य देवी-

देवता घटा-बढ़ा सकते हैं अतः 'वे इस प्रकार की जलधारा से (शांतिधारा से) कैसे दूर होंगे ? पाठक शांतिधारा में बोले जाने वाले पदों एवं वाक्यों पर विचार करें कि क्या वीतरागी अरहन्त भगवान कोई अस्त्र-शस्त्र लेकर बैठे हुए हैं जो कि शांतिधारा करने वाले के द्वारा 'सर्व शत्रु छिन्द-छिन्द भिन्द-भिन्द, बोलने पर शत्रुओं को मार देंगे ? फिर भी यह विचारणीय है कि शत्रु भी यही पद वाक्य बोलकर शांतिधारा कर सकता है तब अरहन्त किसकी प्रार्थना सुनेंगे ? कोई भी शांतिधारा कराने वाला नहीं कह सकता कि कामनाएँ सदा ही पूरी हो जाती हैं । वे तभी पूरी होती हैं जब पुण्य कर्म का उदय होता है परन्तु उस समय तो शांतिधारा न कराने पर भी कामनाएँ पूरी होती हैं । यदि इस शांतिधारा के पाठ को गहराई से देखें तो ज्ञात होगा कि तत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ बन्धुओं ने ब्राह्मणी शांति पाठ एवं शांतिधारा को उनके देवी-देवताओं के नाम के बजाय अरहन्त के नाम जोड़कर जैन रूप देने का प्रयास किया किन्तु लौकिक कामना से की गई शांतिधारा या भक्ति मिथ्यात्व है । हम राग की पूर्ति के लिए तो वीतराग से प्रार्थना करें किन्तु कहें यह कि हम वीतराग भगवान की उपासना वीतरागी बनने के लिए करते हैं—यह एक विडम्बना ही है ।

**जैनत्व से असम्बद्धता**—इससे प्रगट है कि प्रक्षाल की एक साधारण क्रिया को एक ऐसा आडम्बर एवं प्रदर्शन का रूप दे दिया गया जिसका जैनत्व से दूर का भी सम्बन्ध शायद ही सिद्ध किया जासके । स्तवन वन्दन मुख्य कार्य था एवं प्रक्षाल गौण तथा मूर्ति के अभाव में तो प्रक्षाल का प्रश्न ही नहीं । जन्माभिषेक के नाम पर प्रक्षाल को क्रिया—काण्ड का ऐसा रूप दे दिया गया कि मुख्य कार्य गौण एवं उपेक्षित बन गया एवं गौण कार्य ही मुख्य एवं महत्वशाली बन गया । अब तो कई अवसरों पर मात्र कलशों (अभिषेक) की ही प्रमुखता रहती है । या तो पूजा की ही नहीं जाती और अगर की भी जाती है तो उसका कोई महत्व नहीं, जब कि अभिषेक के लिए जल लाने के लिए भी गाजेबाजे से जलयात्रा की जाती है । यह तो वैसा ही

हुआ जैसे कोई दुकान चलाने वाला सफाई करने में ही इतना तल्लीन हो जाय कि दुकान चलाना ही भूल जावे । आज हमारी भी दशा यही हो रही है । हम उन्हीं जैसे वीतराग बनने की प्रेरणा पाने के लिए वीतराग अरहन्तों के स्तवन-वन्दन के आवश्यक कर्त्तव्य को भुला कर अभिषेक के प्रदर्शन में ही अपने कर्त्तव्य की पूर्णता मान बैठे हैं । धार्मिक पूजा, प्रतिष्ठा आदि के अवसर पर तथा भादवा शु० 14 एवं क्षमावणी के दिन कलशाभिषेक आवश्यक रूप से किया जाता है । कहीं-कहीं रात्रि में देर तक किया जाता है । वैसे हम जैन रात्रि में हिंसा की संभावना से भोजनादि नहीं करते, किन्तु पर्व के दिनों में भी रात्रि में कलश, पूजन करने में हिचकिचाते नहीं हैं; जब कि रात्रि में ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए ।

**पंचामृताभिषेक**—जैसा कि पहले कहा गया है तीर्थङ्कर प्रतिमाओं की प्रक्षाल की परम्परा केवल उनका मैल हटाने के लिए चालू की गई थी उसका आत्म शुद्धि के लिए कोई महत्व नहीं, परन्तु इसे तीर्थंकरों के प्रति अन्य धर्मावलम्बियों की सी भक्ति-प्रदर्शन का रूप दे दिया जाने से जलाभिषेक चालू हुआ और बाद में अन्य धर्मावलम्बियों के अनुकरण पर जल के साथ-साथ अन्य पदार्थ भी शामिल कर लिए गए । यद्यपि उन पदार्थों की संख्या पाँच से अधिक ही है फिर भी अन्य धर्मवालों की नकल पर पंचामृत ही कहलाता है ।

पंचामृत में निम्न वस्तुओं को शामिल किया जाता है— जल, दाख, खजूर, आंवला, केला, नारियल का रस, आम का रस, इक्षुका रस, घी, दूध, दही, कषायोदक, गंधोदक, शुष्क चूर्ण, हल्दी आदि । दक्षिण में तो इन पदार्थों की कोई सीमा नहीं है । वहाँ रजत स्वर्ण मुद्रायें, सिद्धर, पुष्प, सुपारी, चावल, लोंग, दाल आदि अन्य खाद्य-अखाद्य पदार्थों से भी कलशाभिषेक का क्रिया-काण्ड कराया जाता है । अभी श्रवणबेलगोला में महामस्तकाभिषेक में ऐसा ही हुआ था । दक्षिण के अभिषेक पाठों में इस सभी खाद्य-अखाद्य पदार्थों को 'अमृत' में शामिल कर लिया गया है ।



शास्त्राधार से या बुद्धि गम्य तर्क से इन सब खाद्य-अखाद्य पदार्थों से जिनबिम्ब के अभिषेक का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता। इनसे आरम्भ व हिंसा होने की अधिक संभावना रहती है जिसे करने की धार्मिक दृष्टि से कोई आवश्यकता नहीं है। हम धार्मिक कृत्यों में भी विवेक एवं शास्त्राधार को न भानकर ऐसी परम्पराओं को धर्म मान बैठते हैं जो शास्त्र सम्मत न होते हुए भी काल विशेष व स्थान विशेष में लाचारीवश या अज्ञानता के कारण अपनाई गई हों। यही कारण है कि आज का युवक इस प्रकार के कृत्यों से विमुख होता जा रहा है। कतिपय भट्टारकों एवं उनके आश्रित पाण्डे लोगों द्वारा रचित क्रियाकाण्डी ग्रन्थों में ही प्रक्षाल के स्थान पर इन खाद्य-अखाद्य पदार्थों से जिन बिम्ब के अभिषेक का वर्णन मिलता है।

अभिषेक में काम के ली हुई इतनी खाद्य सामग्री का यह दुरुपयोग ही है। आज जब लाखों लोग अन्न के लिए भूखों मर रहे हैं, तब खाद्य पदार्थों को धर्म के नाम पर बरबाद करना सर्वथा अधार्मिक है एवं राष्ट्रहित विरुद्ध है। मैं समझता हूँ कि पंचामृताभिषेक समर्थक साधु, त्यागी या श्रावक भी उक्त वस्तुओं के पंचामृत से अपना अभिषेक करने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में अरहन्त भगवान के प्रतिबिम्ब के लिए ही पंचामृत से अभिषेक करने का आग्रह क्यों? इन वस्तुओं से तो मूर्ति स्वच्छ होना दूर रहा उल्टे गन्दी और हो जाती है और उस गन्दगी को दूर करने के लिए फिर जलाभिषेक की आवश्यकता होती है और कहीं-कहीं रस कण रह जाने पर तो लाखों चींटियाँ बिम्ब के आसपास आ जाती हैं और अन्त में मरती हैं। इन सबकी जिम्मेवारी किस पर है, थोड़ी गंभीरता से सोचें।

### श्रावकाचार-ग्रन्थों में अभिषेक का स्थान

निम्न सर्वमान्य श्रावकाचार ग्रन्थों में अभिषेक या पंचामृताभिषेक का वर्णन ही नहीं मिलता, इनमें केवल देव-भक्ति, वन्दना या पूजा का वर्णन ग्रथा प्रसंग अद्यय किया गया है—

रचनाकार	ग्रन्थ का नाम	रचनाकाल
1, आचार्य कुन्दकुन्द	चारित्र पाहुड	वि. प्रथम सदी

2. आ. उमास्वामी	तत्त्वार्थ सूत्र	वि. प्रथम सदी
3. ,, समन्तभद्र	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	वि. दूसरी सदी
4. ,, कुमार	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	”
5. ,, असृतचन्द्र	पुरुषार्थ सिद्धचुपाय	वि. 10 वीं सदी
6. ,, अमितगति	अमितगति श्रावकाचार	11 वीं सदी
7. ,, पद्मनन्दी	उपासक संस्कार	12 वीं सदी
8. ,, गुणभूषण	श्रावकाचार	12 वीं सदी के बाद
9. श्री पद्मनन्दी	श्रावकाचार सारोद्धार	वि. 14 वीं सदी
10. पं० गोविन्द	पुरुषार्थानुशासन	वि. 16 वीं सदी
11. पं० राजमल	लाटी संहिता	17 वीं सदी
12. अज्ञात	व्रतसार श्रावकाचार	अज्ञात

अभिषेक का सबसे पहला वर्णन आचार्य जिनसेन के महापुराण ( वि. सं. 760 ) एवं पंचामृताभिषेक का सबसे पहला वर्णन, रविषेण के पद्मचरित ( वि. सं. 734 ) में मिलता है। रविषेण ने भी श्रावकाचार के वर्णन में तो पंचामृताभिषेक का कथन नहीं किया। वह उल्लेख केवल कथा प्रसंग में है। इससे यह सिद्ध होता है कि विक्रम की 8 वीं सदी पूर्व तक अर्थात् भ. महावीर के 1200 वर्ष बाद तक तो दिग्म्बर परम्परा में अभिषेक या पंचामृताभिषेक का नाम ही नहीं था। पुराणों के कथा प्रसंगों में उक्त उल्लेख हो जाने के बाद भी इनको मान्यता नहीं दी गई, क्योंकि पौराणिक कथाओं में तो विषय भोग, पाँच पापों, मिथ्यात्व, कषायादि का भी वर्णन होता है किन्तु वे कभी विधेय नहीं होते। श्रावकों के आचार्यों को नियमन करने के लिए श्रावकाचार ग्रन्थ हैं। अतः वे ही इन नियमों में प्रमाणभूत समझे जाते रहे हैं एवं समझे जाते हैं। यही कारण है कि आचार्य असृतचन्द्र, अमितगति, पद्मनन्दी, गुणभूषण आदि आचार्यों के श्रावकाचारों में अभिषेक या पंचामृताभिषेक का उल्लेख तक नहीं किया गया। 11 वीं सदी में हुए सोमदेव ही प्रथम रचनाकार हैं जिन्होंने यशस्तिलक नामक चम्पू काव्य में श्रावक धर्म के अन्तर्गत पंचामृताभिषेक या अनेकामृत का विधिवत् वर्णन किया है।

45 वर्ष पूर्व पं. पन्नालालजी सोनी ने अभिषेक पाठ संग्रह सम्पादित कर प्रकाशित कराया था। इस संग्रह में पूज्यपाद एवं गुणभद्र जैसे प्रसिद्ध एवं मान्य आचार्यों के नाम पर भी अभिषेक पाठ दिए गए हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. मिलापचन्द्रजी कटारिया ने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि ये अभिषेक पाठ प्रसिद्ध आचार्य पूज्यपाद एवं गुणभद्र रचित नहीं हैं। मध्यकाल में भट्टारकों ने साधारण लोगों पर प्रभाव डालने के लिए प्राचीन मान्य एवं प्रसिद्ध आचार्यों के नाम से भी कई रचनाएँ बनाई ( संभव है उन्हीं नाम के भट्टारक भी हुए हों ) जिनमें शास्त्र विरुद्ध मान्यताओं एवं क्रियाकाण्डों का पोषण किया जाता था। कुन्दकुन्दाचार्य के नाम पर कुन्दकुन्द श्रावकाचार और रयणसार, उमास्वामी के नाम पर उमास्वामी श्रावकाचार, देवसेन के नाम पर भाव संग्रह, जैसे ग्रन्थ लिखे गए जिनकी अन्तर्बाह्य परीक्षा कर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पं० मिलापचन्द्रजी कटारिया आदि ने सिद्ध कर दिया है कि ये ग्रन्थ प्राचीन मान्य आचार्यों की रचना नहीं हैं अतः ये मान्य नहीं हैं। इस संग्रह में सोमदेव, आशाभर तथा उनके बाद के भट्टारकों के रचित अभिषेक पाठ ही हैं।

इसमें अकलंक एवं नेमीचन्द्र नामक लेखकों के अभिषेक पाठ भी हैं। ये भी प्राचीन प्रसिद्ध आचार्य नहीं हैं अपितु ये दोनों 16 वीं 18 वीं शताब्दी के लेखकों की रचनाएँ हैं जो उक्त प्रसिद्ध आचार्यों के नाम-राशि उत्तर काल में हुए होंगे या यह भी संभव है कि अन्य किसी ने उनके नाम से इनको लिखा हो। ये अभिषेक पाठ पंचकल्याणक पाठों के अंश हैं जिन्हें बाद में नित्य प्रक्षाल के लिए भी अपना लिया गया।

### जिन बिम्ब के अभिषेक का अनौचित्य—

जिन बिम्ब के अभिषेक व पंचामृताभिषेक की इन विकृतियों का औचित्य एवं महत्व सिद्ध करने के लिए इसे तीर्थकर के जन्म कल्याण के अभिषेक का प्रतीक बताया गया। तीर्थकर जन्म के समय इन्द्र उन्हें सुमेरु पर्वत पर लेजा कर क्षीर सागर के जल से अभिषेक करता है अतः तदनु रूप

अभिषेक करने वाले को इन्द्र का अभिनय करने हेतु अधिकाधिक बोली लगाने की परम्परा डाली गई तथा क्षीर सागर के जल के विकल्प के रूप में उपरोक्त प्रकार के पंचामृत से या जल से अभिषेक कराने लगे तथा उस समय दसों दिशाओं के दिग्पालों को आमंत्रित करने का अभिनय भी किया जाता है। इन तथ्यों पर निम्न विचार उठते हैं—

1. क्षीरसागर के साथ जब जल शब्द जुड़ा हुआ है तो उसको दूध कैसे माना जाय? किसी का नाम महावीर कुमार हो उससे उसे भगवान महावीर नहीं मान लेंगे। इसी प्रकार क्षीर सागर नामक समुद्र के जल को दूध नहीं माना जा सकता। यदि उसे दूध मानें तो वह दूध किसका है? इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। वस्तुतः वह जल है। अतः क्षीर सागर के जल से अभिषेक का अभिनय कराने के लिए नारियल, आम, इक्षु आदि फलों का रस, घी, दूध, दही, चन्दन, हल्दी, सिद्धर आदि खाद्य-अखाद्य पदार्थों से निमित्त पंचामृत का उपयोग करने वाले की अन्धभक्ति एवं अविवेकीपन पर दुख ही प्रकट किया जा सकता है।

2. तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये। इस प्रकार जैन उपासना पद्धति में अरहन्त भगवान की उपासना, भक्ति, पूजा उनके जैसे अपने में गुणों की प्राप्ति के लिए ही की जाती है। अस्तु, भगवान की प्रतिमा के प्रक्षाल काल में वीतराग गुणों का चितवन न होकर इन्द्र बनने, दिग्पाल बुलाने, उन्हें अर्घ्य चढ़ाने का अभिनय किया जाता है उसका कोई औचित्य नहीं है। कैवल्य एवं निर्वाण कल्याण प्रतिष्ठित प्रतिमा का जन्म कल्याणक मताना भी सर्वथा गलत है।

3. श्रावक के षट् कर्तव्यों में स्तवन, वन्दन, पूजन दैनिक करणीय कर्तव्य हैं। उसके लिए पूजन प्रक्षाल करने हेतु अत्रती इन्द्र बनना क्यों आवश्यक है? पूजा के समय सादगी चाहिए या इन्द्र के आभूषणों का प्रदर्शन? हम अपरिग्रहवाद की दुहाई देते हैं किन्तु हमारे धार्मिक कृत्य भी इन्द्र बनवा

कर, कलश कराकर या माला पहना कर पैसे का प्रदर्शन करने के साधन मात्र रह गए हैं। बाहुबली में महामस्तकाभिषेक में कलशों की बिक्री से 34-35 लाख रुपये इकट्ठे हुए किन्तु आयोजकों को इस राशि से सन्तोष नहीं हुआ, अतः सारे देश में जन मंगल कलश के नाम पर ताम्र कलश घुमाया गया और लाखों रुपया एकत्र किया गया, बाद में भी कलश करने वालों से रुपये लेते रहे। इन सब की कोई सीमा ही नहीं है। ऐसे अवसरों पर कलश करने वालों में प्रतिद्वंद्विता कराकर अधिकाधिक न्योछावर लेना ही एक लक्ष्य रह गया है। अब प्रायः अन्य मेलों आदि में कलशों की न्योछावर या डाक के नाम पर हजारों रुपये लिए जाते हैं मानों निर्धनों को प्रक्षाल का अधिकार नहीं है। अन्यत्र विशिष्ट अवसरों पर कलशों के बाद माला की डाकें लगाई जाती हैं। यह भी मन्दिर की आय का साधन एवं धनिकों की मान कषाय के प्रदर्शन का साधन है। धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा, ज्ञान, आचरण को प्रधानता एवं मान्यता दी जानी चाहिए किन्तु आज वहाँ भी पद एवं पैसे को ही प्रमुखता दी जाती है। यही कारण है कि आज यह भावना जोर पकड़ती जा रही है कि पैसा एकत्र करो चाहे अन्याय, अवैध व अधार्मिक मार्ग ही क्यों न अपनाना पड़े, क्योंकि पैसे का दान देकर वह धर्म शिरोमणि बन सकता है और समाज में प्रतिष्ठा पा सकता है जब कि उसमें कई बार धार्मिकता का अभाव भी होता है।

अतः सही दृष्टि से देखा जाय तो प्रक्षाल, पूजन आदि करने वाले के लिए इन्द्र बनना, आभूषण पहनना, यज्ञोपवीत पहनना किसी प्रकार उचित नहीं है और प्रक्षाल, पूजन के लिए बोलियाँ लगाना भी उचित नहीं है।

**दस दिग्पाल**—पं० आशाधर, अय्यपार्य, नेमिचन्द्र आदि ने अपने अभिषेक पाठों में दस दिग्पालों के आमंत्रण के लिए अलग-अलग श्लोक एवं मंत्र बनाए हैं। पं० आशाधर ने इन्हें दर्भ ( कुश ) देने के श्लोक भी रचे हैं। यहाँ यह विचार करना है कि जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा की प्रक्षाल के समय इन तथाकथित दस दिग्पालों को आमंत्रित करने, अर्घ्य देने, दाभ देने, नागादि को तर्पण देने की क्या आवश्यकता है। वस्तुतः जैन धर्मानुसार दसों दिशाओं

का ही क्या तीन लोक रूप विश्व का ही कोई कर्त्ता या रक्षक या पालक नहीं है। अतः किसी को दसों दिशाओं का पालक बताकर उसे अर्घ्य, दाभ देने का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्य मतों में पूर्वादि दस दिशाओं के इन्द्र आदि दस लोकपाल माने जाते हैं, अतः उन्हीं के अनुकरण पर ये नाम रखे गए हैं जिनमें ब्रह्मा एवं नाभ के स्थान पर धरणीन्द्र व सोम रखे गए हैं। पंडित आशाधर कृत अभिषेक पाठ में दस दिग्पालों का विचित्र स्वरूप भी वर्णित किया गया है, उसका जैन करणानुयोग के वर्णन से कोई मेल नहीं बैठता है। उदाहरणार्थ ईशान देव के वर्णन का भाव इस प्रकार है—

“गले में बन्धे घुंघरुओं के रणभ्रुण शब्दों से वाञ्छित और नूपुरों के अव्यक्त शब्दों से रमणीय ऐसे ऊँचे सींगवाले मोटे सफेद बाल पर जो बैठा है, जिसके सर्पों के आभूषण चमक रहे हैं, जिसकी जटा में अर्द्धचन्द्र और चोटी में सर्प लिपटे हुए हैं एवं जो त्रिशूल और कपाल को धारण किए हुए हैं, जिसके नन्दी आदि गण साथ में हैं ऐसे पूर्वोत्तर दिशा के ईश ईशान को पूजता हूँ।”

पाठक देखेंगे कि इस स्वरूप का ग्रन्थ मतों में मास्य शिवजी के वर्णन से मेल बैठता है। श्री मिलापचन्द्रजी कटारिया, केकड़ी ने जैन-सन्देश में सन् 1958 में इन दस दिग्पालों को ग्रन्थ मतों का अनुकरण बताते हुए सिद्ध किया था कि वे जैन धर्म के करणानुयोग सम्मत नहीं हैं किन्तु आज तक किसी भी विद्वान् ने इन दिग्पालों की स्थिति करणानुयोग से सिद्ध नहीं की है। जब दिग्पालों की स्थिति ही जैनागम से सिद्ध नहीं होती तब उन्हें अर्घ्य देने, दाभ देने, उनका स्नपन करने एवं उन्हें बाहन अनुचरों सहित बुलाने आदि का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता और वह भी सौधर्म जैसे इन्द्र का अभिषेक करने वाले द्वारा। वह स्वयं इन्द्र ही इन्द्र नामक दिग्पाल को कैसे आमन्त्रण देगा, अर्घ्य देगा ?

विकृति यहाँ तक बढ़ गई है कि किसी-किसी अभिषेक पाठ में तो भस्म, गोबर आदि के पिण्ड बनाकर चढ़ाने के श्लोक व मन्त्र भी बना दिए गए हैं। इसी प्रकार आरती करने के श्लोक भी बनाए गए हैं, मूर्ति स्थापित

करने, कलश रखने, श्री लिखने, 60 हजार सर्पों को अमृतांजलि से सिंचन करने, अग्नि जलाने आदि अनेक कार्यों के श्लोक रचे गए हैं। इन सब क्रियाओं की निरर्थकता एवं शास्त्र विरुद्धता सर्वज्ञात है अतः और क्या लिखा जावे।

**धार्मिक क्रान्ति**—उपरोक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि स्वच्छता हेतु मूर्ति का प्रक्षाल करना तो उचित है किन्तु परिस्थिति वश या अज्ञानतावश आगत अन्य क्रियाएँ—इन्द्र बनना, दिग्पाल-क्षेत्रपाल पूजन, दर्भन्यास, गोबर-भस्म के पिण्ड, नाग-दर्पण, यज्ञोपवीत पहनना, अभिषेक करना, पंचामृता-भिषेक करना, कलश के न्योछावर लेना, माला पहनना एवं उसकी डाक लगाना, प्रक्षाल जल-गंधोदक पीना, प्रतिमा पर केशर-चन्दन लगाना, पुष्प चढ़ाना आदि विधेय नहीं है। यही कारण है कि आज से 400 वर्ष पूर्व समाज में आगरा के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बनारसीदासजी के नेतृत्व में क्रान्ति का सूत्रपात हुआ जिसका विकास जयपुर की विद्वत् मण्डली—पं० टोडरमलजी, पं० जयचन्दजी आदि ने किया। उन्होंने इस समस्त क्रियाकाण्ड का ही विरोध नहीं किया अपितु इनके संचालक-भट्टारकों का भी विरोध किया। जयपुर के कई मन्दिरों में कलशाभिषेक बन्द कर केवल प्रक्षाल की जाने लगी। तेरापंथी मन्दिरों में माला पहनने व उसके लिए डाक लगाने की प्रथा भी नहीं है। जयपुर के कुछ प्रमुख मन्दिरों में भाद्रपद शुक्ला 14 व क्षमावणी के दिन कलश भी मूर्ति पर नहीं किए जाते। एकबार परिपाटी पड़ जाने के कारण कलश समारोह का पूर्ण बहिष्कार तो नहीं किया जा सका किन्तु जल किसी पात्र में डाला जाता है। वस्तुतः इसका भी कोई औचित्य नहीं है। अतः ऐसे अवसरों पर मात्र शास्त्र प्रवचन आदि का कार्यक्रम बनाना चाहिए।

इस शताब्दी में भी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पं० नाथूरामजी प्रेमी, पं० परमेष्ठीदासजी जैसे विद्वानों ने भट्टारकों द्वारा प्राचीन आचार्यों के नाम पर रचे जाली ग्रन्थों की विशद परीक्षा की, इस सबका परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत में भट्टारक प्रथा समाप्त हो गई किन्तु कुछ भाई पुराने संस्कार वश इस क्रियाकाण्ड को नहीं छोड़ पाते। 17 वीं, 18 वीं सदी में हुई उक्त

क्रांति का दक्षिण भारतेवासी जैन वर्ग पर क्षेत्रीय दूरी एवं भाषा विभिन्नता के कारण अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ा। अतः वहाँ अब भी वे इस क्रियाकाण्ड को करने में ही धर्म समझ रहे हैं। इधर इस शताब्दी में कुछ साधु त्यागी वर्ग ने पंचामृताभिषेक व अन्य क्रियाकाण्डों को महत्व दिया है और इसका पुनः प्रचार किया जा रहा है। अतः आवश्यकता है कि धार्मिक क्रांति की भावना उत्तर एवं दक्षिण में सर्वत्र फैलाई जावे क्योंकि अब भाषा और दूरी का अन्तर पहले की तरह नहीं रहा। इस भावना से ही हम आज के वैज्ञानिक युग में हमारे क्रियाकर्म की जैन सिद्धान्तों के साथ संगति सिद्ध कर सकने में समर्थ होंगे। अतः हम वीतराग मार्ग की साधना में अरहन्त की वन्दना स्तुति के महत्व को समझते हुए अभिषेक की आडम्बर-प्रदर्शन पूर्ण क्रिया को छोड़ें एवं आवश्यकतावश मूर्ति की स्वच्छता हेतु प्रक्षाल का सही उपयोग करे। गंधोदक को पीने के काम में कदापि न लें। उसका तो सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए भी किसी प्रकार का उपयोग नहीं करना चाहिए। जब हम अपने दैनिक कृत्य में भी जल का सीमित प्रयोग करना चाहते हैं तब प्रक्षाल में अनावश्यक जल का ज्यादा मात्रा में उपयोग क्यों किया जाय? प्रक्षाल में जल के सिवा अन्य खाद्य-अखाद्य सामग्री का दुरुपयोग न किया जावे। हम प्रक्षाल को भी श्रावक के ताते ही करें, उसके लिए इन्द्र बनना आवश्यक नहीं है। प्रक्षाल जैसी वन्दना की प्राथमिक क्रिया की कोई बोली या डाक नहीं लगानी चाहिए। दान सहज भाव से देना चाहिए न कि प्रदर्शन एवं प्रति-द्वन्द्विता के आधार पर।

हमें प्रक्षाल की क्रिया में अज्ञानवश या दूसरों के अनुकरण से आगत विकृतियों की परीक्षा वीतरागता एवं अहिंसा की साधना के आधार पर करनी चाहिए। आडम्बर एवं प्रदर्शनों से वीतरागता की नहीं अपितु राग की पुष्टि होती है तथा मात्र राग को पुष्ट करने वाली क्रियाओं को धार्मिक क्रिया की संज्ञा देना जैन धर्म सम्मत नहीं है।

## परिशिष्ट

अभिषेक के समर्थन में कहा जाता है कि प्रत्येक अष्टाह्निका में स्वर्गों के इन्द्र तथा देव नन्दीश्वर द्वीप जाकर वहाँ स्थित अकृत्रिम चैत्यालयों में आठ दिन तक भगवान की पूजा व अभिषेक करते हैं अस्तु, जब इन्द्र तथा देव-गण भी अरहन्त प्रतिमाओं की पूजा व अभिषेक करते हैं तो अभिषेक को धर्म विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है। उनका मानना है कि नन्दीश्वर द्वीप में 52 अकृत्रिम चैत्यालय हैं, उनमें 5616 भगवान की अकृत्रिम प्रतिमाएँ हैं, वे प्रतिमाएँ सदा सूर्यकी तरह दीप्तिमान रहती हैं और उनकी 500-500 धनुष की अवगाहना है। उन मन्दिरों की ऊँचाई चौड़ाई व व्यास भी योजनों प्रमाण है। उनमें समवसरण के समान ही तोरण द्वार, मानस्तम्भ आदि हैं। वे चैत्यालय क्रीडाभूमि, संगीत भूमि तथा नाटक शालाओं से भी सुशोभित हैं। अतः अकृत्रिम चैत्यालयों के अस्तित्व की जैन सिद्धान्त से इस असंगति के सम्बन्ध में एक बन्धु ने वीर दि० 1-7-81 तथा समन्वयवाणी दि० 1-9-84 में विद्वानों से निम्नानुसार प्रश्न किये थे—

1. जैन धर्मानुसार अनादिकालीन तो छह द्रव्य है। क्या अकृत्रिम प्रतिमाओं और चैत्यालयों का अस्तित्व उसी प्रकार है कि जैसे नदी, पहाड़ आदि का कि जो बरूप होते हैं, उत्पाद व्यय से युक्त होते हैं और जिनमें कोई एक रूपता नहीं होती ?
2. जैन सिद्धान्तानुसार प्रत्येक पौद्गलिक वस्तु उत्पादव्ययात्मक होती है। ऐसी स्थिति में वीतराग अरहन्तों के आकार की, सूर्य कीसी दीप्ति और 500-500 धनुष की अवगाहना वाली प्रतिमाओं का तथा उनके लिए चैत्यालयों का निर्माण प्राकृतिक रूप से ही हो गया ( और वह भी क्षेत्र विशेष में ही, हमारे यहाँ नहीं ) और वे बिना किसी परिवर्तन ( उत्पाद व्यय ) के उसी अवस्था में अनादि काल से स्थित हैं—इसके लिए क्या युक्ति है ?

3. वे अकृत्रिम प्रतिमाएँ क्या अलग अलग तीर्थकरों की होती हैं ? यदि अलग अलग तीर्थकरों की होती हैं तो अनन्तकाल में हुई किस चोबीसी के तीर्थकरों की होती हैं ? यदि नहीं तो वे क्या इंगित करती हैं ?
4. उन अकृत्रिम प्रतिमाओं की पूज्यता के लिए पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होती है या नहीं और नहीं तो क्यों नहीं ?

परन्तु खेद है किसी भी विद्वान ने युक्ति युक्त स्पष्टीकरण देकर समाज का मार्ग दर्शन नहीं किया है और परिणाम स्वरूप जम्बूद्वीप, नन्दीश्वर द्वीप, अकृत्रिम चैत्यालयों की रचनाओं के निर्माण के नाम पर समाज का लाखों रुपया बरबाद कराया जा रहा है। नन्दीश्वर भक्ति, चैत्य भक्ति आदि की अंचलिकाओं की आचार्य कुन्दकुन्द रचित बताकर अभिषेक का समर्थन किया जाता है, वह भी भ्रमोत्पादक है। वे भक्तियां संस्कृत में श्लोकबद्ध हैं और उनमें मात्र वन्दना नमस्कार आदि का ही उल्लेख है। उनके साथ लगी अंचलिकाएँ कि जिनमें पांच द्रव्य द्वारा पूजा व अभिषेक का वर्णन है वे प्राकृत गद्य में है। प्रसिद्ध विद्वान स्व० डा० ए. एन. उपाध्ये ने लिखा है कि “भक्तियों का पद्य एवं गद्य दोनों एक लेखक और एक काल की रचना नहीं हो सकती” इस कारण और इसलिए भी आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्र पाहुड तथा अन्य मान्य साहित्य में कहीं भी अभिषेक का वर्णन नहीं मिलता, अभिषेक की प्राचीनता के प्रमाणमें गद्यात्मक अंचलिकाओं को कुन्दकुन्दाचार्य रचित नहीं माना जा सकता।

आधुनिक खोजों ने स्वर्गों के अस्तित्व पर भी प्रश्न चिह्न लगादिया है। इस सम्बन्ध में भी मैंने “पद्मावती आदि शासन देवों तथा होम, हवन, मंत्र-तंत्र सम्बन्धी मिथ्यात्व” पुस्तिका में “परीक्षा प्रधानी बनो” शीर्षक के अन्तर्गत तथा समन्वयवाणी दि० 1-6-82 में “ज्ञान ज्योतिचक्र भोखा” शीर्षक लेख में पर्याप्त प्रकाश डाला है। पाठक वहाँ देख लेने की कृपा करें। शास्त्रों में, वास्तविकता से असंगत इन वर्णनों का कारण यह है कि शास्त्र

लिखना भ० महावीर के लगभग 600 वर्ष बाद चालू हुआ था और उनके रचनाकार छद्मस्थ थे, सर्वज्ञ तो दूर, श्रुत केवली भी नहीं थे। अतः शास्त्रों के ऐसे वर्णनों को सर्वज्ञ की वारणी नहीं माना जा सकता।

भ० महावीर ने तो ईश्वर कर्तृत्व के विरुद्ध क्रान्ति की थी और कहा था कि जैसे कर्म करोगे उनका फल भोगना ही पड़ेगा। किसी की भी केवल पूजा भक्ति से तुम्हारे पाप नाश नहीं हो सकते। अरहन्तों की भक्ति का केवल यही उद्देश्य है कि उनके गुणों की बार बार भावना से हमारा पुरुषार्थ जाग्रत होकर वे गुण हममें भी पैदा हो जावें और उससे हमारे पाप नाश हो जावें। अभिषेक का क्रियाकाण्ड तो उनके गुणों की भावना के उद्देश्य से विरुद्ध दिशा में लेजाता है। उसने तो अरहन्त प्रतिमाओं को संसार के कर्ता हर्ता ईश्वर का रूप दे दिया है कि जिसके विरुद्ध ही भ० महावीर ने क्रान्ति की थी और यह धारणा पैदा कर दी है कि ईमानदारी का जीवन न होने पर भी केवल अरहन्त प्रतिमा की पूजा, अभिषेक, भक्ति से ही हमारे पाप नाश हो जावेंगे। इस प्रकार हमारा समाज भ० महावीर के उपदेशों से ठीक विपरीत दिशा में जा रहा है। सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री ने भी “जिन पूजा/जिन मन्दिर” पुस्तक की समीक्षा करते हुए जैन सन्देश दि० 14-10-82 में लिखा था, “सहस्र अठोत्तर कलसा प्रभुजी के सिर ढरे” पढ़कर मूर्ति के ऊपर जल के कलश होते जाते हैं और एक तरह से हिन्दू पूजा पद्धति में जो मूर्ति को स्नान कराने का रूप है वही रूप जैन पूजा पद्धति में भी होता जा रहा है।”

बिरधीलाल सेठी

